

बहुवाचनिक भाषायोजना*

उदयनारायण सिंह

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

इस निबंध में तृतीय विश्व तथा भारत के संदर्भ में बहुभाषिकता की समस्या को लेकर विस्तार से आलोचना की गयी है और निष्कर्ष के रूप में “बहुवाचनिक भाषा योजना” के मॉडल को सामने रखा गया है। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव आदि भारतीय समाजभाषा-विज्ञानियों ने अपनी युक्ति-तुर्कों से यह तो सिद्ध कर ही दिया था कि पश्चिमी “एकवाचनिक” मॉडल को जबरदस्ती भारत जैसे देशों के ऊपर प्रयोग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सामान्यतः बहु-भाषा हमारे लिए अभिशाप नहीं अपितु आशीर्वाद ही रही है। “बहुवाचनिकवाद” इस बात पर जोर देता है कि कुछ व्यवहार-क्षेत्र ऐसे हैं—जैसे विज्ञान तथा तकनीकी गवेषणा और प्रयोग के क्षेत्र जहाँ एकवाचनिकता तथा एकभाषिक योजना ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है, लेकिन ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं—जैसे शासन, न्याय तथा शिक्षा के क्षेत्र, जहाँ भाषा-योजनाकार को अपनी योजना के लिए आवाम की बहुमुखी वाग्-विधि तथा भाषिक बहुलता को ही आधार मान कर चलनी पड़ती है। भाषा-योजना के क्षेत्र में इस Ellecticism को ही बहुभाषिकता-वाद से हटकर बहुवाचनिकता-वाद कहा गया है।

आज तृतीय विश्व में सर्वत्र अशान्ति, असंतोष एवं आशंका की स्थिति ने मनुष्य के भाषा-भूगोल की तस्वीर को हिला दिया है। भारतवर्ष इस ज्यामिति के क्षेत्र में कोई व्यतिक्रम नहीं है। पर भारतीय ऐतिह्य की सबसे सदर्थक परंपरा यह रही है कि इतिहास ने हमें सभी

* इस निबंध की प्रस्तुति स्वर्गीय धीरेन्द्र वर्मा स्मृति व्याख्यान-माला के रूप में की गई थी जिसका शीर्षक था ‘बहुवाचनिक भाषा-योजना : सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय के स्वप्न से कठोर सत्य की भूमि’; भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता; 1990.

प्रकार के आघात तथा विपर्यय को सहन करने की क्षमता दी है, जिसका प्रमाण भाषा तथा समाज के इतिहास में हमें बार-बार मिलता है। आज फिर एक बार इसी प्रकार की परीक्षा की घड़ी आयी है। पर इस बार भाषा-विषयक एक ऐसी समस्या उठ खड़ी हुई है जिसे लेकर हमारे देश में कभी संघात की स्थिति नहीं आई। यह है बहुभाषिकता की समस्या।

बहुभाषिकता कभी भी हमारे लिए समस्या नहीं थी। मध्ययुग के राजपूत घर हड़ौती में बात कर रहे हैं, संस्कृत के माध्यम से उन्हें धर्मशिक्षा मिल रही है, ब्रजभाषा में वे काव्य-चर्चा कर रहे हैं और प्राकृत में दर्शन की चर्चा—ऐसी छवि के साथ हम 'Language in Plural Society' (1977) ग्रंथ में प्रबोध पंडित द्वारा वर्णित बम्बई शहर के गुजराती मसाला-व्यवसायी के वाग्व्यवहार की तुलना कर सकते हैं। ये घर पर कच्ची बोलते हैं, सब्जी खरीदते हैं कोलाबा अंचल से आये हुए सब्जी-वालों की एक विशेष उपभाषा में, कभी-कभार समाचार पत्र पढ़ रहे हैं अंग्रेजी में, सपरिवार जाते हैं हिंदी फिल्म देखने के लिए, सबवे के आंग्ल-भारतीय कर्मचारियों के साथ बतियाते हैं एक तरह की 'बाज़ारू हिंदुस्तानी' में (सुनीति बाबू की दी गई संज्ञा है) अथवा 'मिश्र हिंदी' में और मसाला बाज़ार में वे प्रयोग करते हैं बहुत सारी भाषाओं का, जिनमें कोंकणी, गुजराती तथा मराठी शामिल है। अथवा हम चुन सकते हैं कालिदास द्वारा रचित किसी भी नाटक को जहाँ राजा, रानी, पुरोहित, पार्षद, भृत्य तथा सेविका कभी एक ही भाषा-शैली में वार्तालाप नहीं करते हैं। ऐसा नहीं है कि कालिदास ने सर्वत्र वाग्व्यवहार के परिपार्श्व का यथार्थ चित्र अंकित किया है अथवा उनके द्वारा वर्णित वार्तालाप ही एकमात्र यथार्थ है—पर यह अवश्य सत्य है कि उस ज़माने में भी बहुभाषिकता थी, लेकिन बहुभाषिकता के लिए सम्प्रेषण में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती थी। इसी लिए हम उस युग में विद्यापति तथा उन्हीं के जैसे अन्य अनेक स्रष्टा को पाते हैं, जिन्होंने एक ही जीवन में बहुत सारी भाषाओं में साहित्य-स्रष्टि की है।

फिर आज क्यों ऐसा लग रहा है कि संपूर्ण संप्रेषण-व्यवस्था टूटने जा रही है? या, भारत की जनता अब एक जाति, एक प्राण और एक देशीय होकर रहना नहीं चाहते हैं? 1940 ई० में ऑक्सफोर्ड से छपी एक छोटी सी किताब में (जिसका शीर्षक था 'Languages and the linguistic problem') आचार्य सुनीति कुमार चाटुर्या ने कहा था कि पहले से आज भाषिक अनेकता बहुत अधिक उच्चारित होकर हमारे सामने आयी है और यही हमारी भाषिक समस्याओं का मूल है। उनका वक्तव्य कुछ ऐसा था : "We feel that we ought to have a common language for the whole of India as a symbol of a common Indian nationality, which would both check the centrifugal or fissiparous tendency of the provincial languages and meet the unsympathetic argument that India cannot be a single nation with so many languages." इसका एक समाधान भी उन्होंने प्रस्तावित किया है : हिंदी की एक विशेष शैली का प्रचार, प्रसार और उन्नयन एवं लेखन के लिए अन्य एक सर्व-भारतीय लिपि के रूप में रोमन लिपि का चयन। उन्होंने हिंदी को संप्रेषण-माध्यम और अंग्रेजी को सांस्कृतिक माध्यम के रूप में बढ़ावा देने की बात भी कही है।

इससे इतना पता चलता है उस समय 55 वर्ष की अवस्था में भारत के प्रमुख के भाषा-विद् के रूप में विश्व-विख्यात ध्वनि-विज्ञानी और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के यह मूधन्य विद्वान जिस किसी पाश्चात्य देश में भी गये हैं, वहीं भारत की बहुभाषिकता, धर्माधिक्य और सांस्कृतिक बहुलता को लेकर उन्हें बहुत बातें सुननी पड़ीं। और पश्चिमी भाषा-विज्ञान के प्रभाव के कारण

वे इसी सिद्धांत पर पहुँचे कि संख्याविषय की दृष्टि से बहुभाषिकता ही इनके लिए उत्तरदायी है—यही इन सभी 'समस्याओं' की जड़ है। यहाँ यह कहना पड़ेगा कि आइनर हाँगेन ने (जिन्होंने सर्वप्रथम 1959 ई० में अपने एक निबंध में 'भाषा-योजना' की बात कही थी) 1961 ई० में भाषा के 'मानकीरण' के संदर्भ में इसी को भाषा-विषयक 'सक्रिय सिफारिश' के रूप में अभिहित किया था। आज हम जानते हैं कि शोध-क्षेत्र के रूप में 'समाज-भाषाविज्ञान' यानी 'Sociolinguistics' यह शब्द भी 1952 ई० के बाद में ही प्रयोग में आता है (जो कि 1962 ई० में आकार ही अंतर्राष्ट्रीय स्तर में गृहीत शब्द के रूप में चालू हो सका)। अतः 1940 ई० में कही गई इस बात को हम केवल एक ऐसे समाधान के रूप में देख सकते हैं जिसे पश्चिम के द्वारा प्राच्य को गलत समझने का उदाहरण कहा जा सकता है।

यह भी सही है कि हम लोगों में बहुत से लोग ऐसे हैं जो यह नहीं जानते हैं कि बहुभाषिकता आज किस स्तर पर पहुँची है। 1961 ई० की जनगणना के बाद भारत सरकार ने हमें सूचित किया था कि इस देश में मातृभाषा की संख्या 1,652 है। यह अवश्य ही बढ़ायी-चढ़ायी बात लगती है, क्योंकि इनमें 471 'भाषाएँ' ऐसी हैं जो जनगणना के अनुसार पाँच लोगों से ज्यादा की मातृभाषा नहीं रही है। 695 भाषिक नाम ऐसे हैं जिनके बोलने वालों की संख्या छह से तो अधिक है, पर 999 से कम ही है। इसलिए ऐसा कहना उचित होगा कि इन 1,652 'मातृ-भाषाओं' की संख्या में संभावित भ्रांति को छोड़ कर हम 221 ऐसी 'भाषाओं' का नाम ले सकते हैं जिनको मातृभाषा के रूप में प्रयोग करने वालों की संख्या कम से कम 10,000 है। इनमें से 33 भाषाएँ ऐसी हैं जो दस लाख से भी अधिक वक्ताओं की भाषा है एवं 49 ऐसी हैं जिनके वाचकों की संख्या एक लाख से भी अधिक है। 1981 ई० की जनगणना को देखें तो पता चलता है कि इन संख्याओं में भारी परिवर्तन हुआ है। अब मात्र 90 ऐसी भाषाएँ हैं जो 10,000 बोलने वालों की संख्या को पार कर सकती हैं, जिनमें से 9 की बोलने वालों की संख्या दस लाख से अधिक है; 20 भाषाएँ ऐसी हैं जिनके वाचक लाख भर से ऊपर हैं, और 139 के बदले मात्र 61 भाषाएँ ऐसी हैं जिन्हें प्रयोग में लाने वाले 10,000 से अधिक हैं पर एक लाख से कम हैं। जनगणना में घोषित यह परिवर्तन इस बात का प्रमाण है कि भाषिकता नापने की सरकारी पद्धति में कहीं कोई मूलभूत गलती रह गई है, जिसके बारे में पॉल ब्रास ने अपनी 1974 की पुस्तक में बहुत खूबी के साथ आलोचना की है। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि शासकीय राजनीति में भाषिक और सामाजिक समस्या के विषय में चिंतन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया है जिसके दबाव में आकर जनगणना के गणित में स्वेच्छाचार प्रकट हो गया है। इसकी एक तीसरी व्याख्या भी हो सकती है। यह भी संभव है कि एक बड़े पैमाने में 'भाषा-प्रयाण' (language attrition) अथवा 'भाषिक विस्थापन' (language shift) हुआ है। ये दोनों परिस्थितियाँ काफ़ी आशंका-जनक हैं—विशेष कर भाषिक संख्यालघुओं की प्रतिरक्षा की दृष्टि से। भाषिक संरक्षण के पक्ष में हमारे देश में जितने आंदोलन हुए हैं, उनमें से बहुचर्चित आंदोलनों के बारे में शायद सभी लोग जानते हैं। इनमें से कई भाषाओं के संदर्भ में सफलता की कहानी भी है। जैसे, सिंधी भाषा के पक्ष में जनमत गठन की कथा तथा कोंकणी की भाषा-रूप में स्वीकृति मिलने की कहानी भी शामिल है। बहुत ऐसी भी भाषाएँ हैं जिन्हें संपूर्ण राष्ट्र की दृष्टि को आकृष्ट करने में सफलता तो मिली (जैसे बोड़ो तथा नेपाली के समर्थन में सशस्त्र आंदोलन अथवा मैथिली के समर्थन में अहिंस गण-आंदोलन), लेकिन राजनैतिक तथा प्रशासनिक दृष्टि से सफलता या तो नहीं मिली, या मिलने में काफ़ी देर हुई। कुछ और भाषा-गोष्ठी के आंदोलन भी हैं जो किसी भाषा-विशेष के अधिकार की मांग को लेकर नहीं हुए—जैसे कि झाड़खंड के समर्थन में आंदोलन।

इसके अलावा, उर्दू, कश्मीरी तथा डोगरी-पंजाबी भाषाओं के सपक्ष में अनेकानेक स्तर में बहुत सारी माँगें भी सामने आई हैं।

इन सभी बातों को पीछे रखकर एक महत्वपूर्ण सवाल उभर कर सामने आता है और वह यह है : तृतीय विश्व में—जिसमें भारत अग्रगण्य देशों में एक है—जहाँ भाषा-संरक्षण ही नियम है और की अपमृत्यु एक व्यतिक्रम ही है—वहाँ बहुभाषिकता पर शोध शुरू हो तो कैसे हो ? पश्चिमी देशों के समाजभाषा-विज्ञानी अपनी गवेषणा की शुरुआत करते हैं 'क्यों' और 'कैसे' भाषा अपना अस्तित्व तथा अपने वक्ताओं को खो देती है—ऐसे सवालों से। उधर प्राच्य के समाजभाषाविद् इस बात को जानने के लिए उत्सुक हैं कि भाषा-संरक्षण के पीछे जो विराट ऐतिहासिक शक्ति काम कर रही है—इस देश में तथा अन्यत्र भी—उसका उत्स कहाँ है ? यहाँ उल्लेखनीय है कि भारत में जो चार प्रमुख भाषा-परिवार हैं, उनके अलावा अभी तक भाषा-परिवार की दृष्टि से वर्णित और वर्गीकृत न हो सकने वाली भाषाओं की संख्या भी कम नहीं है। 1,652 'मातृभाषाओं' में 601 इसी प्रकार की हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि अगर हम 20 भारोपीय और 17 द्रविड़ भाषाओं को ही लें तो 98.1% भारतीय इस सीमा के अंदर आ जाते हैं। साथ ही यह भी ठीक है कि 1981 की जनगणना के अनुसार भारत में केवल 1.9% जनता में ही 53 ऐसी भाषाओं के बोलने वाले हैं, जिनमें से सभी भाषियों की संख्या कम से कम 10,000 हैं। अगर ऐसा है तो हमें यह भी सोचना पड़ेगा कि इन 53 अल्पसंख्यक भाषा-भाषियों का भविष्य क्या है ? संविधान की अष्टम अनुसूची में जिन 95.6% लोगों की मातृ-भाषाएँ स्वीकृत हुई थीं, उन्हें छोड़कर भी ऐसी 22 महत्वपूर्ण भाषाएँ हैं जो सभी सुख-सुविधा से वंचित रही हैं। इन्हें लेकर भी समस्या कम नहीं है। 1981 की जनगणना के हिसाब से इन मान्यताहीन भाषाओं में भीली, डोगरी, गोण्डी, खाँदेशी, कुरुख/ओराओं, संथाली तथा तुलु—संख्या की दृष्टि से 13 से 44 लाख बोलने वालों की भाषा है—इनमें कोंकणी तथा नेपाली/गोर्खाली भी शामिल थी, पर इन्हें आगे चल कर मान्यता मिल गई। मजे की बात यह थी कि सभी जनगणनाओं में 'बिहारी' एवं/अथवा 'मैथिली' के नाम से जिस भाषा (वर्ग) का नाम सर्वदा उपस्थित था, 81 की जनगणना में पता नहीं किसके इशारे से वह लापता हो गई। यहाँ यह कहना उचित होगा कि एक लाख से दस लाख बोलने वालों की भाषाओं में कम से कम कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जो आज नहीं तो कल इसलिए स्वीकृत भाषा होने का दावा करेंगी कि उनके पृथक प्रदेश अथवा भौगोलिक अंचल की सृष्टि पहले ही हो चुकी है। वह हैं आदि (अरुणाचल प्रदेश), गारो तथा खासी (मूलतः मेघालय), लुशाई अथवा मिज़ो (मिज़ोरम), एवं त्रिपुरी अथवा टिपरा (त्रिपुरा)। अर्थात्, मणिपुरी या मेइतेइ की सफलता से शिक्षा लेकर सांविधानिक स्वीकृति का प्रश्न उठाने वाली बीसियों भाषाओं में इस श्रेणी की भाषाएँ प्रमुख होंगी।

यह राशिविज्ञान का खेल और अधिक जमेगा अगर हम स्वीकृति की अन्यान्य मान्यताओं की ओर देखें। बहुभाषिक भारत में साहित्य के सार्थक माध्यम के रूप में साहित्य अकादमी ने 22 भाषाओं को स्वीकृति दी है, 35 भाषाओं में संवादपत्र तथा अन्य पत्रिकाएँ प्रकाशित होते हैं, प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में 67 भाषाओं का प्रयोग होता है, राष्ट्रीय साक्षरता मिशन ने कम से कम 80 भाषाओं में साक्षरता का प्रचार तथा प्रसार करने का निर्णय लिया है तथा आकाशवाणी के संचार-माध्यम से 104 भाषाओं में किसी न किसी अनुष्ठान का प्रचार किया जाता है। यहाँ इस बात पर गौर करना उचित होगा कि जिन प्रदेशों में अष्टम अनुसूची के बाहर बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या अधिक पायी गई (जैसे, '71 की जनगणना के अनुसार ऐसी भाषाओं

की संख्या हरियाणा में जहाँ मात्र 0.2% है, उसके विपरीत बिहार में 7%, असम में 14%, जम्मू और कश्मीर में 28% और मणिपुर में 97% थी), ठीक इन्हीं स्थानों पर भाषिक-सामाजिक असंतोष तुंग पर उठा, विशेष कर अगले बीस वर्षों में। इस दृष्टि से समस्याजनक स्थान और भी हैं, जैसे गोआ (66%), अरुणाचल प्रदेश (87%), अन्दमान और निकोबार (23%), त्रिपुरा (29%), सिक्किम (96%), नागालैंड (93%) तथा मेघालय (86%)—जिनमें कड़ों की समस्याओं का समाधान 1971 से 1991 के भीतर हमारे सामने उभर कर आया, जैसे मणिपुर, गोआ तथा सिक्किम की समस्याओं का हल मिला मणिपुरी, कोंकणी तथा गोर्खाली की स्वीकृति के बाद। यहाँ इस बात की ओर ध्यान देना पड़ेगा कि भारत की सीमित आर्थिक क्षमता को लेकर देश का संचालन करते हुए अगर सरकार को इन सभी भाषा-भाषियों के भ्रकारी पृष्ठ-पोषण की मांग को मान लेना पड़ता है तो इनके आदर्शीकरण तथा आधुनिकीकरण के लिए जो भयंकर आर्थिक दबाव पड़ेगा, उसका सहन उन 95.58% जनता को ही करना पड़ेगा, जिनकी मातृभाषाएँ अष्टम अनुसूची द्वारा स्वीकृत हैं।

जब आर्थिक दबाव और अर्थनीति की बात आ ही गई तो इस प्रसंग में पश्चिम के समाज-भाषा-विज्ञानियों का वक्तव्य जान लेना अच्छा होगा। जोनाथन पूल (1972) ने हाल ही में कहा था : "A country that is linguistically highly heterogeneous is always underdeveloped, and a country that is developed always has considerable linguistic uniformity." हमें अक्सर इस तरह के तर्क बहुत लोगों से सुनने को मिलते हैं। वस्तुतः इस देश के शासक-वर्ग के अधिकांश नेता ही इस तरह की चिन्ता-धारा से प्रभावित हैं। इसी प्रसंग में जोशुआ फिशमैन (1972 : 39) का कथन भी उल्लेखनीय है : "Just as it is hypothesised that experiences previously undergone by more developed entities (such as polities, economies, societies, languages) can help to clarify the future course to less developed ones, so it is hypothesised that the experience currently undergone by less developed entities can help to reconstruct those formerly undergone by those more developed today."

पूल और फिशमैन दोनों समाज-भाषाविज्ञान के अच्छे गवेषकों में हैं; फिर भी उनके वक्तव्य के खिलाफ तृतीय विश्व की तरफ से बहुत सारी युक्तियाँ दी गई हैं। इस विश्व की ओर से प्रबोध पंडित (1977) और रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (1977) आदि प्रमुख समाज-भाषा-विज्ञानियों ने अकाट्य युक्ति देकर इस बात को सिद्ध किया है कि विश्व में कई एकभाषी देश हैं (जैसे, सोमालिया) जिनकी आर्थिक क्षमता बहुत ही नगण्य है तथा ऐसे कई धनी देश हैं (कैनडा आदि) जहाँ भाषिक एकता नहीं है। परन्तु यह अवधारणा और भी अधिक बेबुनियादी कही जा सकती है कि जो परिकल्पनाएँ पश्चिम के देशों में सार्थक रही हैं (चाहे वह समाज संस्कार की हों अथवा आर्थिक परिकल्पना की किंग भाषा-योजना की हों) वही प्राच्य के देशों में भी अच्छी तरह चल जायेंगी। अगर ऐसा मान लें तो यह भी मानना पड़ेगा कि योरोप और अमरीका में भाषा और साहित्य के उन्नयन का जो आदर्श रहा, वही आदर्श हमारे लिए भी अनिवार्य है। हमें इन बातों को मानो प्राकृतिक नियमों की तरह मान लेने को कहा जा रहा है। इन्होंने इस बात को स्वतः सिद्ध मान लेने को कहा है कि अंततोगत्वा बहुभाषिकता तृतीय विश्व के देशों के अधिवासियों की बौद्धिक दरिद्रता का कारण बन जाती है। इसी कारण ऐसे देशों में सांस्कृतिक शून्यता (cultural anomic) तथा संप्रेषण के विघटन (communication breakdown) की तस्वीर हमें देखने को मिलती है—ऐसा भी बहुभाषिकता के विरोधियों ने कहा है।

इन तर्कों के उत्तर में रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने यह स्पष्ट कर दिया था कि बौद्धिक दारिद्र्य या सम्प्रेषण की समस्या अगर सच होती तो विश्व में बहुभाषाभाषी और बहुभाषालेखी बुद्धिजीवियों का अभाव दिखाई पड़ता। तृतीय विश्व में ऐसे बुद्धिजीवियों का अभाव तो नहीं ही है, प्रथम और द्वितीय विश्व में भी ऑस्कट वाइल्ड, बेकेट अथवा सोलझेनित्सिन की संख्या भी कम नहीं है। वस्तुतः सांस्कृतिक शून्यता-बोध मानव में तभी आता है जब उसके व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन में एक ही साथ अनेक संस्कृतियों का प्रतिघात देखने को मिलता है। पर अनेक भाषा तथा संस्कृति के उपस्थिति मात्र से यह प्रतिघात नहीं आता है। अधिकांशतः पार्थक्य की भूमि के नीचे बहती रहती है समेकता तथा तुलनीयता की अन्तः सलिला। सबसे कठिन है यह मान लेना कि भाषिक तथा साहित्यिक उन्नति का कोई पूर्वनिर्दिष्ट पथ है। उन्नयन के इतिहास का अध्ययन करें तो इस बारे में कोई सामान्य सूत्र मिलना असंभव प्रतीत होगा। वह इसलिए कि बहुभाषी समाज में एक ही साथ संस्कृतीकरण और प्रति-सांस्कृतिक शक्तियों का संघात तथा सम्मेलन चलता ही रहता है—इसी डायलेक्टिक्स के कारण संस्कृतायन और प्राकृतायन की दोहरी स्रोत बहती ही रहती है। अतः एक ही बहुभाषिक समाज-संस्कृति में भाषा-सरण, भाषा-प्रयाण तथा भाषा-संरक्षण की विविध धाराएँ देखने को मिलती हैं। और फिर उन्नयन-कामी भाषाएँ प्रगति-पथ पर विभिन्न बिंदुओं से अपनी अपनी यात्रा शुरू कर सकती हैं। जिन भाषाओं का उल्लेख मैंने पहले ही किया है वे सभी उन्नति की तुला पर एक वजन की नहीं हैं। भाषाविज्ञानी यह मानकर चलते हैं (चाहे वह पश्चिम के हों चाहे पूर्व के) कि आदिम समाज (primitive society) हो सकता है, लेकिन आदिम भाषा नाम की कोई वस्तु नहीं है। पर यह भी सही है कि आदिम न होते हुए भी कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जो अनुन्नत अवश्य हैं। इस लिए यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्रत्येक भाषा का उन्नयन एक ही गति से नहीं होता है। हमेशा ऐसा नहीं होता है कि हर भाषा के लिए उन्नयन की एक जैसी सुविधाएँ नहीं होती हैं—ऐसा भी संभव है सभी समाज में स्वभाषा-प्रेम एक जैसा नहीं है। बहुत लोग अपने प्रति अन्य भाषा-भाषी अथवा समाज का किया हुआ अवमूल्यायन को मान लेते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपनी भाषा को जीवित रखने में इतने उत्साही नहीं हैं, यद्यपि अपनी संस्कृति को जीवित रखना चाहते हैं। अर्थात्, उन्नयन के इतिहास में अनेक प्रकार की धारा, विधारा तथा प्रतिधारा देखी जा सकती है।

यह भी सही है कि इन सभी भाषाओं के उन्नयन का लक्ष्य भी एक नहीं है। जैसे, हिंदी को केवल सरकारी काम-काज की भाषा नहीं रह कर राष्ट्रभाषा बनने की चाहत है—कम-से-कम वह आम जन-संपर्क की भाषा बनना चाहती है। तमिल भाषी चाहते हैं उनकी भाषा हिंदी के तथाकथित 'सम्प्रसारणवाद' की विरोधी विन्दु बने क्योंकि उनकी नज़र में उनकी भाषा अत्यंत उन्नत विचार-माध्यम तथा साहित्यिक सम्प्रेषण का माध्यम सदियों से बना हुआ है। बंगला भाषी एक महान साहित्यिक ऐतिहास्य बनाने में जुटे हुए हैं और कुछ हद तक हिंदी की विरोध-विन्दु भी बने हुए हैं। सिन्धी की समस्या यह है कि उसे जो शासकीय और सांविधानिक सुविधाएँ मिली हैं—अपनी सर्जनशीलता का प्रमाण देकर उसकी यथार्थता साबित करना, बोड़ो भाषी के लिए समस्या यह है कि उसे जो शासकीय शक्तियों से मुकाबला करना है उसके लिए किस प्रकार की शक्ति से हाथ मिलाया जाय—आंचलिकतावादी ताकत (असमिया लिपि का चयन अथवा बंगला लेखन प्रणाली?), अथवा राष्ट्रीयतावादी शक्ति (नागरी लिपि का प्रयोग) किंवा अन्तर्राष्ट्रीयतावादी तत्व के साथ (जिसे मानें तो रोमन लिपि का चयन करना पड़ेगा)। नागामी नामक

मिश्र-भाषा का लक्ष्य है तेरह पृथक् नागा भाषाभाषी गोष्ठियों के बीच संयोग-साधन की कृत्रिम भाषा से उस प्रदेश के शासन की भाषा के रूप में उन्नति होना। झाड़खंड अंचल की कृत्रिम भाषा सदनी के सामने भी कुछ ऐसी ही समस्या है, पर उसे प्रशासन का माध्यम बनना नहीं है। इसी तरह विभिन्न भाषाओं के भिन्न-भिन्न लक्ष्य की ओर देखें तो ये एक ही बात को सिद्ध करते हैं—भाषिक उन्नयन का न ही एक लक्ष्य है, न ही उन्नयन का तरीका एक है।

मुश्किल यह भी है कि हम मात्र संख्यातत्त्व की दृष्टि से यह सोच कर लज्जित हैं कि हमारी निरक्षरता का आंकड़ा ऐसा है अथवा बहुभाषिकता की संख्या का इतना प्रतिशत है। हम लोग आशिस बोस (1985 : 378-9) की परिवार-नियोजन विषयक सावधान-वाणी को भूल जाते हैं, जहाँ उन्होंने कहा था कि किसी भी उन्नयन की एक गुण और मानगत विशिष्टता है, लेकिन उन्नयन का पश्चिमी मॉडल हमें दशमलव संख्या के घेराजाल में ही बाँध कर रखा है—वह हमें इसके बाहर निकल कर देखने ही नहीं देती है। हम लोग केवल इसी बात को लेकर चिंतित रहते हैं कि अगर निरक्षरता सचमुच कम हो गई है तो साक्षरता की संख्या कितनी बढ़ी? हम लोग इस बात को लेकर चिंतित नहीं हैं कि ये सद्य-साक्षर लोग अब क्या करेंगे या क्या पढ़ेंगे? इन अक्षरकामी लोगों का व्यक्तिगत उन्नयन हम किस तरह से कर सकते हैं अथवा इन्हें हम कैसे काम में लगाएँगे? अगर हम यह चाहते भी हों कि उन्हें विभिन्न जन-संचार माध्यम के जरिये उनकी नव-लब्ध क्षमता—साक्षरता की क्षमता को बनाये रखने की कोशिश करेंगे तो भी यह इसलिए संभव नहीं है कि सभी प्रकार के संप्रेषण-माध्यम को जोड़ कर भी हम लोग 20% से अधिक भारतीय के पास नहीं पहुँच पा सकते हैं।

इस तरह अगर जन-संचार और भाषिक उन्नयन की ओर देखें तो संचार-माध्यम की राजनीति की बात आ जाती है। देवी प्रसन्न पट्टनायक ने (1986 : 87) हमें सावधान करते हुए पहले ही कहा है : “With 10% of the world population enjoying 90% of the world energy and 90% of the available radio frequency, it is not at all surprising that the developing world is information-starved.” पश्चिम की उन्नत दुनिया में भी अंग्रेजी, फ्रांसिसी, जर्मन, स्पैनिश, रूसी तथा पोर्तुगीज आदि भाषाओं के बीच विभिन्न संप्रेषण-माध्यम में अधिकाधिक स्थान दखल करने की लड़ाई तीव्र हो उठी है और इसमें संदेह नहीं है कि यहाँ भी पश्चिम की परिचित बहुता को धीरे-धीरे हटाने के प्रयास में जुटी हुई है अंग्रेजी-भाषा। World Radio TV Handbook के तैंतीसवें संस्करण में जो आंकड़े दिये गए हैं उससे पता चलता है कि अन्य भाषाओं की तुलना में अंग्रेजी बहुत आगे है :

भाषाएँ	अधिक काल तक प्रयोग में	कुछ ही समय तक प्रयोग में
1. अंग्रेजी	90 देशों में	50 देशों में
2. फ्रांसिसी	44	22
3. स्पैनिश	27	12
4. पोर्तुगीज	10	7
5. जर्मन	6	16
6. अरबी	21	7

सभी देशों की रेडियो ब्रॉडकास्टिंग के अंतर्गत जो विदेशी भाषा की सेवा का प्रबंध है, केवल वहीं फ्रांसिसी के प्रयोग (51 देशों में औसतन हर दिन 170 मिनट तक) के साथ अंग्रेजी

की (69 देशों में औसतन 360 मिनट तक) तुलना की जा सकती है। येरनड (1987) ने सांविधानिक स्वीकृति की बात कहते हुए इस बात को दर्शाया है कि यदि हम पृथ्वी के किसी भी देश की सरकारी घोषणा को लें और कानून की भाषा की ओर शीर करें या देखें कि संविधान किस भाषा में रचित हुआ है, अर्थात् अगर हम परोक्ष स्वीकृति की बात करें, तो यह देखेंगे कि सरकारी भाषा के रूप में सारी पृथ्वी में 32 देशों की घोषित सरकारी भाषा के रूप में अंग्रेजी को छोड़कर भी 52 ऐसे देश हैं जहाँ यह अप्रत्यक्ष रूप से सरकारी भाषा ही है। ऐसे अगर अंग्रेजी के साथ फ्रांसिसी की तुलना करें तो उसे हम पायेंगे 19 तथा 21 देशों में, स्पैनिश को 9 तथा 14 देशों में, पुर्तुगीज केवल अप्रत्यक्ष रूप से 11 देशों में, आदि आदि। इसी तरह अगर हम बाल्डाउफ और येरनड (1987) के द्वारा दी गई संख्याओं की ओर देखें तो पायेंगे कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान तथा कारीगरी विद्या विषयक शोध-पत्रिकाओं में भी अंग्रेजी दूसरी भाषाओं के ऊपर अपना आधिपत्य विस्तार करती जा रही है। यहाँ भी उद्देश्य का पता चलता है जब देखते हैं कि येलोग पुल (1982 : 90) के उस वक्तव्य पर जोर दे रहे हैं जहाँ वह कहते हैं : “The development of science and the training of scientists is facilitated when there is a high level of communication of scientific information.” वुड (1967) ने हमें आँकड़ों के सहारे यह बताया है कि जीवविज्ञान, भौतिकी तथा इंजीनियरिंग के क्षेत्र में अंग्रेजी की जीत अप्रतिरोध्य है, रसायनशास्त्र, चिकित्साशास्त्र तथा गणित में भी 50.3% से लेकर 54.8% विज्ञानी अंग्रेजी का ही प्रयोग कर रहे हैं शोध-माध्यम के रूप में। यह भी देखने को मिलता है कि अंग्रेजी और जर्मन भाषा के विज्ञानी अपनी ही भाषा में प्रकाशित गवेषणा-कर्म को उद्धृत कर रहे हैं अपने लेख में। लेकिन दूसरी अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं में लिख रहे विज्ञानी अंग्रेजी में छपे निबंधों से ही ज्यादा उद्धरण होते हैं। इन सब बातों में हम दो निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं : पहला यह कि अत्यंत सुपरिकल्पित रूप से अंतर्राष्ट्रीय संप्रेषण तथा विज्ञान के क्षेत्र में अंग्रेजी आगे बढ़ रही है। पश्चिमी भाषाभाषी समाज ने 90% बेतार तरंग (radio frequency) पर अपना अधिकार जमाकर बौद्धिक साम्राज्यवाद का परिचय तो दिया ही है—लेकिन बात इतनी दूर आकर भी रुकी नहीं है। वे धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक घात-प्रतिघात के बीच से अपने भावी monistic या एकवाचनिक लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रहे हैं। दूसरा निष्कर्ष यह है कि सुनीति बाबू ने जो कहा था संस्कृति की भाषा के रूप में अंग्रेजी को हम पूर्णतः त्याग नहीं सकते हैं—हमें उसे बदल कर 1963 में जवाहरलाल नेहरू ने जो बात कही थी उसी को दूसरी तरह से कहना है : विज्ञान तथा तकनीकी विद्या के क्षेत्र में अगर प्रगति लानी है तो अंग्रेजी को पूरी तरह से छोड़ने से काम नहीं चलेगा।

अब तक मैंने जो कुछ कहा उसमें एक अन्तर्विरोध जैसा लग सकता है। एक ओर तो मैंने यह कहा है कि सम्प्रेषण बहु-भाषा के व्यवहार से टूट नहीं जाता है, क्योंकि साहित्य का उन्नयन और प्रशासन का काम एक ही संग अनेक भाषाओं में संभव है (कारण बहुभाषिता मात्र सामाजिक न रहकर वैयक्तिक भी हो जाता है, जिसके फलस्वरूप ऐसे देश में बहुत सारे बहुभाषी और संपर्कभाषी मिल जाते हैं)। साथ ही मैंने यह भी कहा है कि ऐसा नहीं है कि पश्चिम के समाज-भाषाविज्ञानी केवल तृतीय विश्व के लिए ही एकवाचनिक भाषा-योजना का सुझाव दे रहे हैं, अन्य विश्व में भी एक विशेष भाषा की विजय-ध्वजा दिखाई पड़ रही है। देवी प्रसन्न पट्टनायक ने (1986) तृतीय विश्व को—विशेष कर एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देशों को—उन्नयन के वितर्क (debate on development) से अलग करने के विपक्ष में कहते

हुए जो 'बहुभाषिक योजना' (multi-lingual planning) की बात की थी, उसके साथ मेरी 'बहु-वाचनिक भाषा-योजना' (pluralistic language planning) का एक दुर्बोध्य किंतु महत्वपूर्ण पार्थक्य है (द्रष्टव्य मेरी 1992 में प्रकाशित पुस्तक 'Language development and planning')। सबसे पहले यह बताना आवश्यक है कि बहुवाचनिक भाषा-योजनाकार भाषा परिकल्पना को एक अनुप्रयुक्त गवेषणा के रूप में देखता है और वह विश्वास करता है कि ऐसे क्षेत्र में एक मत, एक पथ और एक तत्व का होना नामुमकिन है। इसलिए वह यह भी मानने को तैयार नहीं है कि भाषा के आदर्शिकरण अथवा मानकीकरण की कोई पूर्वनिर्दिष्ट धारा है। 'योजना को एक सुनियोजित, सचेतन तथा चलमान प्रयास कहा जा सकता है, जिसके द्वारा किसी विशेष लक्ष्य तक पहुँचने के लिए संभाव्य बहुत सारे उपायों में से श्रेष्ठ उपाय को चुन लेने का प्रयास माना जा सकता है' (Waterson 1986 : 20)। यदि यह सच है तो संभावित प्रयास के इतने प्रकार-भेद और प्रक्रिया-भेद को देखते हुए और भाषा-योजना के इतिहास को सामने रख कर यह कहा जा सकता है कि भाषा-योजना का कोई अधितत्व (metatheory) का निर्माण कठिन ही है। यहाँ भाषा-योजना के तात्त्विक गठन के लिए दुआ ने (1985) जो सवालों को उठाया उनका उल्लेख करना आवश्यक है। यद्यपि मैंने इन सवालों को बदल डाला और जवाब में भी काफी परिवर्तन किया (द्र० सिंह 1992), उनके सवाल अब भी महत्वपूर्ण हैं : "Who defines language problems, what language problems are considered at different levels and when, and how language problems are defined, why certain language problems are defined and considered at a particular time in a speech community and how changes take place in the nature and scope of language problems" (Dua 1985 : 3)।

बहुवाचनिक भाषा-योजना को Crisis management या संकट-मोचन का साधन सोचना अनुचित होगा। लेकिन यह अवश्य है कि यह एक issue-oriented practicum अर्थात् समस्या-निर्भर समाधान-प्रक्रिया अवश्य है। योजनाकार यह भी समझते हैं कि भाषा-योजना को राजनीति से दूर नहीं किया जा सकता है। Rubin & Jernudd ने (1976 × v) उनके द्वारा संपादित निबंध-संकलन ('Can language be planned?') की भूमिका में लिखा था, "Language planning is deliberate language change; that is; changes in the system of language code or speaking or both that are planned by organizations that are established for such purposes or given a mandate to fulfill such purposes. As such language planning is focussed on problem-solving and is characterised by the formulation and evaluation of alternatives for solving language problems to find the best (or optimally the most efficient) decision."

अब तक मैंने बहुवाचनिक भाषा-योजना के बारे में जो कुछ कहा है उससे यह निष्कर्ष सामने उभर कर आता है कि इस तरह के भाषा-योजनाकार का विश्वास है कि जहाँ आवश्यक हो हमें किसी एक भाषा की प्रमुखता/प्रधानता को मानना ही पड़ेगा, पर सामान्य रूप से—बहु-भाषा कोई अभिशाप नहीं है, अधिकतम ज्यादातर क्षेत्र में वह आशीर्वाद ही है। बहुवाचनिकतावाद इस बात को मान लेना श्रेय समझता है कि कुछ व्यवहार-क्षेत्र ऐसे हैं—जैसे विज्ञान और तकनीकी गवेषणा का क्षेत्र (अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जहाँ अंग्रेजी का बोलवाला है अब) या जैसे दूर-संचार माध्यम से मनोरंजन का क्षेत्र (राष्ट्रीय स्तर पर जहाँ किसी व्यक्ति या भाषी-विशेष को यह पसंद हो चाहे न हो, हिंदी ने अपनी अनिवार्यता को सिद्ध कर अपनी vitality अर्थात् जीवनी-

शक्ति का ही परिचय दिया है), जहाँ एक भाषिक भाषा-योजना ही अधिकतर उपयोगी सिद्ध हो सकती है। लेकिन ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं—जैसे शासन, न्याय तथा शिक्षा का क्षेत्र (विशेषतः प्राथमिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा तथा विभिन्न अनौपचारिक शिक्षा के दृष्टांत को लिया जा सकता है)—जहाँ योजनाकार तथा सत्ता को आवाम के साथ तथा उनके आपस की वाग्व्यवहार-विधि के बारे में भाषा-योजना बनानी है, वहाँ भाषिक बहुता को ही आधार मान कर चलना पड़ेगा। इस eclecticism अर्थात् यथोपयोगी संकलनवाद को ही मैंने बहुवाचनिक भाषा-योजना कहा है। हालांकि यह सच है कि रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, प्रबोध पंडित, सुलतान तक्रदीर, अलिशजवाना तथा देवीप्रसन्न पट्टनायक अथवा मेरी भाषा-योजना की संकल्पना में सूक्ष्म पार्थक्य है और रहेगा, लेकिन हम सभी की राजनीति सुस्पष्ट है—और वह है गणतांत्रिकता तथा मानवाधिकार में विश्वास एवं बहुवाचनिक भाषा-योजना का आधार भी यही है।

संदर्भिका

- Baldauf, R. B. & B. H. Jernudd. (1987). Communication and English language dominance in the International Scientific periodical literature. AILA Congress, Sydney. 17th August.
- Bose, Ashish. (1985). Demography beyond decimal points. Social Science Probings, 2.3 : 378-95.
- Brass, Paul R. (1974). Language, religion and politics in North India. New Delhi : Vikas.
- Census of India, 1961, 1971. 1981. New Delhi.
- Chatterji, S. K. (1943). Languages and the linguistic problem, London : OUP (Pamphlets on Indian Affairs, 11).
- Dua, H. R. (1985). Language planning in India. New Delhi : Harnam Publications.
- Fishman, J. A. (1973/1983). Language in Sociocultural change, selected and edited by Anwar S. Dil. California : Stanford University Press.
- Haugen, Einer (1959/1968) Language planning in Modern Norway, in J. A. Fishman, ed. Readings in the Sociology of Language. The Hague : Mouton.
- Jernudd, B. H. (1987) World languages in radio broadcasting and as official languages, in D. C. Laycock & W. Winters, eds. World of Language : Papers presented to Professor S. A. Wurm on his 65th Birthday. Pacific Linguistics, C-100 : 297—308.
- Pandit, P. B. (1977). Language in a Plural Society. New Delhi : Dev Raj Chanana Memorial Committee.
- Pattanayak, D. P. (1986) On being and becoming bilingual in India in J. A. Fishman et al, eds. The Fergusonian Impact, Vol. 2 : 279-93. Berlin : Mouton de/Gruyter.
- Pool, Jonathan. (1973), Mass opinion on language policy : the case of Canada In Joan Rubin & Roger Shuy. eds. Language Planning : Current Issues and Research. Washington, D. C. : Georgetown University Press.

- Rubin, Joan & B. H. Jernudd. (1971). Introduction, in their edited vol, Can Language be Planned ? Honolulu : University of Hawaii Press.
- Singh, Udaya Narayana (1992) On language development and planning : A pluralistic paradigm. Shimla : 11 AS and Delhi : Munshiram Manoharlal.
- Singh, Yogendra. (1972). Modernization of Indian Tradition. New Delhi : Thomson Press.
- Waterson, S. (1986), Development planning ; Lessons of Experience.
- World Radio T. V. Handbook, 33rd edn. (1979) Billboard. Publ.
- Wood, D. N. (1967) The foreign language problem facing scientists and technologists in the U. K : Report of a survey, Journal of Documentation, 23.2 : 17-30.

SUMMARY

Pluralistic Language Planning : The paper explores an alternative paradigm for a planned language development for the third world nations. It is based on the assumption that language problems facing the developing nations are quite different from the ones experienced by the west. The paper argues with conviction and sufficient strength that a blind adoption of western monistic perspective would aggravate the language problems of India and other countries of the third world. It explores the possibility of a 'pluralistic paradigm' that may give us theory of language planning applicable to countries like India that are linguistically heterogeneous and socioculturally multiethnic. The paradigm is different from the 'pluristic' models proposed by a few sociolinguists in that it can accommodate both monistic and pluristic goals of language development.